

लोकगीत और स्त्रीमन

डा० मंजु तेंवर ,

एसोसिएट प्रोफेसर,
सत्यवती कालेज ,सांध्यद्ध,
अशोक विहार,दिल्ली-52
09891225092

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लोक की परिभाषा देते हुए स्पष्ट कहते हैं कि "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियों नहीं है। ये लोग नगर में परिस्कृत , रूचिसम्पन्न व सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृतिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि रखने वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारिता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं, उनको उत्पन्न करते हैं।" इस लोक के दायरे में जल,जंगल,जमीन,श्रम, कलो, संस्कृति व स्त्री प्रमुख हैं।

जहाँ तक स्त्री का सम्बन्ध है, सम्पूर्ण विश्व में कुछ गिनती के मातृसत्तात्मक या मातृवंशात्मक समूहों को छोड़कर अन्य सभी भागों में पितृसत्तात्मक व्यवस्था रही है। पितृसत्ता स्त्रियों का हाशियाकरण करती है और उनकी स्थिति कमतर, शोषित, उत्पीडित व शक्तिहीन बनाती है। अन्य हाशियाकृत समुदायों की तरह स्त्रियों की भी जीवन-दशाओं, अनुभवों व बेहतर ढंग लोक परंपराओं के माध्यम से समझा जा सकता है। मौखिक-वाचिक परंपराओं में स्त्री आवाज की गूँज है। मौखिक परंपराओं का महत्वपूर्ण अंग है-लोक गीत जिनमें स्त्री दृष्टि व स्त्री-सृष्टि गुंजायमान हैं।

लोकगीतों में पुरुखों से चली आती परम्परा अनुभव के रूप में वर्तमान रहती है। समकालीन समाज इन अनुभवों व जीवन-संघर्षों को काव्यात्मक अनुभूति देता रहता है। अपने स्वाभाविक स्वभाव परिवर्तन के साथ लोकगीतों की एक परंपरा सी चलती रहती है। लोकगीतों में दरिद्रता , भुखमरी, अन्याय, स्त्री पराधीनता , दुष्ट शासन , सघर्ष आदि के अलावा प्रेम , उत्सव , आकांक्षा , यौन प्रसंग, स्त्री-पुरुष के अन्तर्सम्बन्ध व इतर सम्बंध व इतर सम्बंधों तक की खुली व एक तरह से अशिष्ट भाषा में भी निर्बाध अभिव्यक्ति है।

लोकगीतों में इस चेतना के दो प्रमुख कारण हैं। एक तो यह किसी के आश्रय में उत्पन्न नहीं होती , बल्कि हृदय की स्वाभाविक अनुभूति से उत्पन्न होती है। अतः प्रायोजित नहीं होती। दूसरा किसी के अधीन न होने के कारण इनमें एक तरह का निजत्व-भरा स्वाभिमान भाव होता है। लोकगीतों में इस स्वतः स्फूर्त ओज के बारे में कुछ यूँ कहा गया है-

‘नाही बिरह कर खेती भइया,

नहीं बिरह फरे डाढ।

बिरहा बसेले हिरिदिया में रामा,

जब जब उमगेले तब गाँव।

किसी परिस्थिति का व्यक्ति-विशेष के मन पर क्या प्रभाव पडता है, इसका स्वाभाविक उदाहरण

लोकगीत ही हैं। विशेषकर स्त्रियों अपने संघर्षों को लोकगीतों के माध्यम से न केवल जीवित रखती हैं, बल्कि उन्हें धार भी देती हैं। वे न केवल स्वयं को पहचानने की कोशिश करती हैं बल्कि विरोधी पर अचूक निशाना भी साधती हैं। इसलिए यह धारणा एकांगी होगी कि लोकगीतों में सिर्फ उल्लास और पर्व का ही वर्णन है। उत्कृष्ट विचार और निकृष्ट व्यवहार दोनों साथ-साथ चलते हैं। सामान्य जीवन में सास के सामने प्रत्युत्तर का भी साहस न करने वाली बहू लोकगीत में—

‘कोठे उपर कोठारी , मैं उसपे रेल चला दूगी।

**जे मेरी सासु तू कुछ बोली, निच्चे पटक दे
मारुंगी।**

जैसे दुःसाहस की परिकल्पना कर लेती है। अपने मायके से मिली सौगातों को—

‘ये मेरा झुमका, मायके तै आया।

इन्ने तै हात न लगाना दूंगी।’

कहकर प्रतिकार का उद्घाटन जोरदार ढंग से करने में समर्थ है।

इन गीतों में स्त्री की स्वयं को खोजने की बहुत ही आतुर कोशिश है। उसमें लोक मन की रवानगी, उसका ठाठ, उसके भीतर की ताजगी और जीवन्तता है, जिन्दगी जीने का अदम्य साहस और लालसा भी है। यहाँ फकीरी का रोना नहीं, बल्कि उसका उल्लास है। भीतर की उमंग ऐसी कि लाख गरीबी के बावजूद ऐसे अवसरों पर नाचे—गाये बिना काम नहीं चलता। लोकमन की उदारता ऐसी की किसी को भी अकेले नहीं छोड़ना, आन्नद में सब झूम उठते हैं अपने लोक की थाप पर। भारतीय लोकमन की उर्जा का ही परिणाम है कि यहाँ इतने सुन्दर लोकगीतों व नृत्यों का सृजन हुआ है। कहीं आपसी सम्बन्धों में पडीं गांठें खोलने की सार्थक कोशिश है तो कहीं पौराणिक पात्रों को नये-सिरे से जाँचने-परखने का प्रयास है।

हमारे समाज में अधिकाँशतः गौर वर्ण को अधिक पसन्द किया जाता है, श्याम वर्ण के प्रति लगभग नकारात्मक आकर्षण है। निम्न लोकगीत में मोरनी के माध्यम से यही भाव व्यक्त है, जहाँ वह राधा के मोटे नैन, लम्बे-लम्बे बाले, मोर के लम्बे-लम्बे पंख आदि के सौन्दर्य का वर्णन करती हैं, लेकिन अपने काले वर्ण का होने का दुःख नहीं भुला पाती और रोती रहती है—

टेर—काले रंग पे मोरनी रुदन करें.....2

1— काला—काला कहें गूजरी

मत काले का जिकर करेकाले रंग पर मोरनी
रुदन करें।

मोटे मोटे नैन राधा के

जिसमें सुरमा खूब सजे।

टेर— काले रंग पे मोरनी रुदन करें।

काला—काला कहें गूजरी।

2—लम्बे—लम्बे केश राधा के

जिसमें मोंग सिन्दूर भरे।

टेर—

3—लम्बे—लम्बे पंख मोर,

जिसके सिर पर मुकुट सजै।

काले रंग पर मोरनी रुदन करें।।

टेर.....

4— काला—काला मेरा सांवारिया ,

जिसकी सुरतिया मन में बसे।

5—हरे—हरे बासां की हरी रे मुरलिया,

जिसका खोया जगत फिरै।

टेर.....

6—काला सर्प पड्या बूम्बी मँहें

जिसका खया तुरन्त मरै ।

भारतीय समाज में सास और बहु के रिश्ते के खटूटे-मीठे अनेक पहलू हैं। कहीं सास माँ है तो कहीं खलनायिका भी है। इस हरियाणवी लोकगीत के माध्यम से विवाह के बाद पत्नी को सास का एकाधिकार बर्दाश्त नहीं, इसीलिए वह पति पर अपने स्वामित्व को उदाहरणों सहित साबित करने का प्रयास करती है।

टेर.....

बेटा-बेटा मत कर सासु

बेटा तो अब मेरा सै.....2.

1-जब तक बेटा निकर पैरै सै,

तब तक हैवो तेरा सै।

अब तेरा बेटा पैन्ट पैरै सै,

अब तौ है वो मेरा सै।

2-जब तक बेटा स्कूल जावै सै,

तब तक है वो तेरा सै।

अब तेरा बेटा कालेज जावै सै,

अब तौ है वो मेरा सै।

टेर.....

3-जब तक बेटा लीला देखै सै,

तब तक है वो तेरा सै,

अब तेरा बेटा फिल्म देखै सै,

अब तौ है वो मेरा सै।

टेर.....

4- जब तक बेटा टीकड खावै,

तब तक है वो तेरा सै।

अब तेरा बेटा होटल जावै।

अब तौ है वो मेरा सै।

जन मानस में अवधारणा है कि ईश्वर को जितने वेश कीमती उपहार दिये जाये, प्रभु उतने ही

प्रसन्न होते हैं। खड़ी बोली के इस लोक गीत में एक गरीब स्त्री देवी माँ से निवेदन करती है कि मेरा घर बहुत छोटा है, फिर भी आपको मेरे घर आना होगा। न केवल घर बल्कि सम्पन्न लोगों की अपेक्षा मेरे उपहार भी छोटे-छोटे (कम कीमत वाले) हैं। लेकिन देवी माँ आप उनको ग्रहण करो और मेरे घर में पधारों।

छोटी सी झुपडिया मेरी माँ,

तू मेरे घर आ जाना,

1- महल दुपहने छतर चढावे

मैं तो मुकुट चढाऊँ मेरी माँ..... तू मेरे घर आ जाना।

टेर.....

2- महल दुपहले साडी पहनावै.....

मैं तो चुनरी चढाऊँ मेरी माँ तू मेरे घर आ जाना।

टेर.....

3-महल दुपले तगडी चढावै

मैं तो पायल चढाऊँ मेरी माँ तू मेरे घर आ जाना

4-महल चुपहले भोग बनावें

मैं तो केला खिलाऊँ मेरी माँ तू मेरे घर आ जाना

टेर.....

ससुराल की अपेक्षा अपने मायके के प्रति अधिक आकर्षण लगभग सभी नारियों का स्वाभाविक व्यवहार है। इसलिए अक्सर वे अपने मायके की सम्पन्नता और ससुराल में कमी बेशी की चर्चा करते नहीं अघाती हैं। यह लोकगीत भी इसी प्रकार के कार्यों से ओतप्रोत है, जहाँ स्त्री सामान्य

उपादानों के माध्यम से अपने पति को उलाहना देते नहीं थकती है ।

टेर.... मेरा बलम खो गया चिमटा

ये दुःख हमसे सहा न जाये.....

1- मेरे पिता के सौ-सौ चिमटे.....

दुनियाँ ले ले जाये.....

इस उल्लू के एक न चिमटा.....

हाथ भी जल-जल जाय....

टेर.....

2-मेरे पिता के सौ लोटे..

दुनियाँ ले-ले जाये....

इस उल्लू के एक न लोटा,

पानी गिर-गिर जाये...

टेर.....

3-मेरे पिता के सौ-सौ नेज्जू....

दुनिया ले ले जाय

इस उल्लू के एक न नेज्जू

डोलू गिर गिर जाये ।

टेर.....

इन गीतों में स्त्री की स्वयं को खोजने की बहुत ही आतुर कोशिश है। उसमें लोक मन की रवानगी, उसका ठाठ उसके भीतर की ताजगी और जीवन्तता है, जिन्दगी जीने का अदम्य साहस और लालसा भी है। यहाँ फकीरी का रोना नहीं, बल्कि उसका उल्लास है। भीतर की उमंग ऐसी कि लाख गरीबी के बावजूद ऐसे अवसरों पर नाचे-गाये बिना काम नहीं चलता। लोकमन की उदारता ऐसी की किसी को भी अकेले नहीं छोड़ना, आनन्द में सब झूम उठते हैं अपने लोक की थाप पर। भारतीय लोकमन की उर्जा का ही परिणाम है कि यहाँ इतने सुन्दर लोकगीतों व नृत्यों का सृजन हुआ है। कहीं आपसी सम्बन्धों में पडीं गांठें खोलने की सार्थक कोशिश है तो कहीं पौराणिक पात्रों को नये-सिरे से जाँचने-परखने का प्रयास है।

संदर्भ ग्रंथ

1. लोकसाहित्य की भूमिका कृष्ण देव उपाध्याय, प्र०-11
2. वही, सभी लोकगीत